



Date:27-03-24

The democratic political process is broken

Ruchi Gupta, [Executive Director of the Future of India Foundation]

The democratic political process in India is broken. It is not just that the institutional machinery has been captured, but that it is becoming impossible to alter the balance of power on any issue to chart a new way forward. At its heart, the democratic political process is not about regime change or “resistance”. The purpose of democratic politics is to facilitate constructive collaboration, of which capturing power and regime change is one part. Seen thus, democratic politics is about building consensus in favour of certain paths and providing platforms for collective action. But all traditional sites of consensus-building — public discourse, civil society, and political parties — have evolved to structurally impede dialectical cooperation.

This is different from the issue of institutional capture because institutions of the state are downstream of the political process. Such institutions can neither be in the business of facilitating collectives nor moot alternatives; they instead derive their credibility from procedural integrity. What is at stake here is more fundamental to our polity and speaks to our inability to collaborate. Consequently, even on issues which have deep public resonance, we as a polity are unable to move beyond outrage, protest, or resignation. It is crucial to identify the pathologies affecting each of these sites if we are to restore the democratic potential of our political process.

The nature of discourse

In a democracy, public discourse provides the space for the back and forth necessary to evolve consensus. However, three connected developments have rendered our public discourse unable to facilitate this. First, many institutional news media have lost credibility due to which they are unable to establish a baseline of facts or exercise narrative control. Second, the rise of social media has decentralised the manufacture and propagation of content making virality instead of substance the primary determinant of value. As a result, engagement is prioritised over quality or veracity. Third, with the loss of credibility of many mainstream media, there has also been a rise in hyper-partisanship wherein people are no longer interested in dialogue or deliberation and news/content is primarily a tool to promote factional interests. Finally, the proliferation of media has led to the fragmentation of our collective attention while the steady stream of “content” has made all issues transient. In this backdrop, gaining visibility and capturing attention is more important than dialogue. Consequently, the public discourse has become a site for a million individual battles to capture attention and reinforce tribal affiliation.

Civil society plays a crucial role as the voice of conscience in any polity and is the natural site to moot

alternatives. However, the locus of liberal civil society action has increasingly moved towards the state and its institutional intermediaries; civil society has become dependent on a permissive state to be able to function. In this model, civil society derives legitimacy from normative purity instead of drawing strength from its representativeness. It is thus suited more to single-issue campaigns than its ability to reconcile multiple viewpoints through negotiation. Civil society groups are also marked by the proclivity to bypass the political process in favour of institutional processes, such as judicial or bureaucratic interventions, to advance their agenda.

Finally, political parties have their own pathologies which shift focus to internal issues and reduce space for deliberation. Conceptually, one aspect of the role of the elected representative is to extrapolate constituency issues into a policy agenda. However, the average elected representative does not have the power and often even the inclination to do so, within the party setup. There is also uncertain electoral pay off from influencing the policy agenda versus directly intervening on behalf of the constituents for delivery of various services. Moreover, elections, even at the constituency level, involve a complex and variable mix of “representation” of constituency, State, and national issues. Consequently, all candidates except the local strongman derive a decisive fraction of votes from the party symbol. This tilts the balance of power heavily towards decision-makers for party tickets within the party. This is further compounded by the fact that institutional positions of power in any party are a fraction of the actual aspirants leading to a preoccupation with internal machinations and sycophancy.

Our ability to come together

These various pathologies feed off each other to fracture our ability to come together. The media may highlight issues but moving forward requires organisation by civil society and political parties. On the other hand, the dysfunction in our information ecosystem has powered the rise of unserious individuals to positions of influence. The top-down nature of parties has altered the structure of civil society by raising the bar for grassroots mobilisation to an untenable height, leading civil society groups to direct their energies into lobbying through intermediary institutions or becoming agents for the execution of bureaucratic projects. This has depleted the organisational strength of civil society and reduced its ability to intervene in the political process for correctives. The dialectical nature of these pathologies resists easy fixes but for the world’s largest democracy, the complexity of the issue is not reason enough to not try.



दैनिक भास्कर

Date: 27-03-24

सत्य निर्धारण का हक प्रजातंत्र में न्यायसंगत है?

संपादकीय

सरकार ने आईटी कानून में साल भर पहले हुए संशोधन के तहत विगत 20 मार्च को केंद्र की संस्था पीआईबी को 'फैक्ट चेकिंग इकाई' घोषित किया, जो किसी तथ्य को गलत करार देकर सोशल मीडिया मध्यस्थ से उसे हटाने को कह सकती है। सुप्रीम कोर्ट ने फिलहाल इस पर स्टे दे दिया है। भारत का लोकतंत्र द्वंद्वात्मक प्रजातंत्र के सिद्धांत पर काम करता है, जिसमें पक्ष और विपक्ष (और मीडिया) प्रतिस्पर्धी तथ्यों/विचारों का मार्केटप्लेस तैयार कर सम्यक निर्णय के लिए जनता को तैयार करता है। तथ्य सरकारी हो सकते हैं लेकिन उसका पूर्ण सत्य सरकार तय नहीं कर सकती । उदाहरण के लिए जीडीपी में भारत दुनिया में पांचवे स्थान पर है, इस तथ्य के आधार पर सरकार देश के विकास का दावा कर सकती है, लेकिन विपक्ष या मीडिया मानव विकास में देश की स्थिति 134वीं बताकर दूसरा पहलू दिखा सकते हैं। सरकार के बेरोजगारी कम होने के आंकड़े के उलट कोई मीडिया (या सोशल मीडिया) रिपोर्ट बता सकती है कि स्व-रोजगार और अवैतनिक काम (खेतों और पारिवारिक दुकानों में) को रोजगार मानने से बेरोजगारी का प्रतिशत कम हुआ है हालांकि अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन की परिभाषा में ऐसे अवैतनिक काम को रोजगार नहीं माना गया है। सरकार अक्सर प्रति व्यक्ति आय या बजट में संख्यात्मक वृद्धि बताकर अपनी तारीफ करती है लेकिन संभव है कि प्रतिशत में ये आंकड़े पहले से कम हों। फिर संविधान प्रदत्त अभिव्यक्ति के (मौलिक अधिकार के खिलाफ युक्तियुक्त निर्बंध (रीजनेबल रिस्ट्रिक्शन) वाले अनुच्छेद 19(2) में राज्य को सत्य निर्धारण की शक्ति नहीं दी गई है, क्योंकि द्वंद्वात्मक राजतंत्र में राज्य स्वयं ही तथ्य देने वाला और सत्य बताने वाला (यानी स्वयं के खिलाफ जज) नहीं हो सकता। लिहाजा पीआईबी को सत्य निर्धारित करने का अधिकार देना प्रजातंत्र की मूल अवधारणा के विपरीत है। चुनाव के बीच यह प्रयास सूचना प्रवाह को बाधित करने वाला हो सकता है।

दैनिक जागरण

Date:27-03-24

चुनावी चंदे का चक्रव्यूह

राजीव सचान, (लेखक दैनिक जागरण में एसोसिएट एडिटर)



राजनीतिक दलों को चुनावी बांड के जरिये चंदा देने की व्यवस्था पर सुप्रीम कोर्ट ने विराम लगा दिया। सुप्रीम कोर्ट के आदेश से भारतीय स्टेट बैंक ने चुनावी बांड का जो विवरण सार्वजनिक किया उसके अनुसार चुनावी बांड के जरिये सबसे अधिक चंदा भाजपा को मिला। यह स्वाभाविक है क्योंकि वह केंद्र के साथ कई राज्यों में सत्ता में है। चंदा अन्य विरोधी दलों को भी मिला है लेकिन वे ऐसा व्यवहार कर रहे हैं जैसे उन्हें मिला चंदा तो जायज है लेकिन जो भाजपा को मिला वह नाजायज है। चुनावी बांड के जरिये चंदा देने की व्यवस्था ने दो चिंताजनक पहलू उभारे हैं। एक यह कि कई ऐसी कंपनियों ने भी चंदा दिया जिनके खिलाफ सीबीआइ ईडी अथवा आयकर विभाग की जांच चल रही थी। चूंकि ऐसी कुछ कंपनियों को

चंदा देने के आगे-पीछे ठेके भी मिले इसलिए यह संदेह उभरा है कि कहीं केंद्रीय एजेंसियों के दबाव में तो इन कंपनियों ने अपनी जेब नहीं ढीली की कांग्रेस ने तो यह कहने में संकोच भी नहीं किया कि चुनावी बांड के जरिये 'चंदा दो-धंधा लो' का खेल चल रहा था। सच क्या है यह जांच के बाद ही पता चलेगा लेकिन क्या यह अच्छा नहीं होगा कि जिन दलों को चुनावी बांड के जरिये चंदा मिला और जो इस तरह से चंदे के लेन-देन को गलत मानते हैं वे उसे वापस कर दें खैर दूसरा चिंताजनक पहलू यह है कि कुछ ऐसी कंपनियों ने भी चंदा दिया जो घाटे में चल रही थीं। एक पहली यह भी है कि चुनावी बांड से चंदा देने वालों में कुछ नामी कंपनियों के नाम नहीं दिखे। क्या यह मान लिया जाए कि उन्होंने किसी को चंदा दिया ही नहीं जिन कुछ कंपनियों को लक्ष्य करके यह कहा जा रहा है कि भाजपा ने उनसे चंदा उगाही की उन्होंने अन्य राजनीतिक दलों को भी चंदा दिया है। क्या उन्होंने भी चंदा उगाही की है

चुनावी बांड के पहले चंदे की व्यवस्था पूरी तरह अपारदर्शी थी। तब ज्यादातर चंदा नकद दिया जाता था। तब दलों को 20 हजार रुपये से कम के चंदे का विवरण न बताने की छूट थी। इसके चलते कई दल यह बताते थे कि उन्हें करोड़ों का चंदा मिला तो लेकिन वह सब 20-20 हजार रुपये से कम का यानी फुटकर ही था। कोई भी समझ सकता है कि यह सही नहीं हो सकता। पहले किसी को यह पता नहीं चलता था कि किसने किसको कितना चंदा दिया। यह मानकर चला जाना चाहिए कि इसके चलते राजनीतिक दलों को अच्छा-खासा कालाधन मिलता होगा। चुनावी बांड की व्यवस्था खत्म होने के बाद से भारतीय राजनीति के फिर से कालेधन से संचालित होने की आशंका कहीं अधिक बढ़ गई है। लोकतंत्र का तकाजा यह कहता है कि जनता को यह पता चले कि किसने किसको कितना चंदा दिया लेकिन इसकी कोई विश्वसनीय व्यवस्था बनाना आसान नहीं। इससे इन्कार नहीं कि चुनावी बांड की व्यवस्था जिस इरादे से लाई गई थी वह पूरा नहीं हुआ लेकिन आज कोई यह बताने वाला नहीं कि चुनावी चंदे की नीर-क्षीर व्यवस्था क्या हो सकती है चुनावी चंदे की साफ-सुथरी प्रक्रिया का कोई कारगर सुझाव उनके भी पास नहीं जो चुनावी बांड के विरोध में खड़े थे और अपनी जीत का जश्न मना रहे हैं।

चुनावी चंदे का एक तरीका यह हो सकता है कि कारोबारी अथवा कंपनियां अपनी आय का एक निश्चित प्रतिशत चुनाव आयोग को दें और फिर वह आयोग दलों को उन्हें मिले मत प्रतिशत के हिसाब से उनमें बांट दे लेकिन यदि कोई अपने पसंदीदा दल को ही चंदा देना चाहे तो कुछ कंपनियां ऐसी भी हो सकती हैं कि वे किसी को चंदा न देना चाहें। क्या उन्हें इसके लिए बाध्य किया जाएगा चुनावी चंदे को लेकर यह एक सुझाव बार-बार आता है कि सरकारी खजाने से राजनीतिक दलों को चुनाव लड़ने के लिए पैसा मिले लेकिन क्या इसके बाद दलों को सरकारी कोष से मिले धन से अधिक खर्च करने से रोका जा सकता है क्या यह किसी से छिपा है कि एक बड़ी संख्या में प्रत्याशी अपने चुनाव प्रचार में तय सीमा से अधिक पैसा खर्च करते हैं। वे खर्च करोड़ों में करते हैं लेकिन कागजों में लाखों में ही दिखाते हैं। यह एक विडंबना ही है कि सभी इस पर तो जोर दे रहे हैं कि चुनावी चंदे की साफ-सुथरी व्यवस्था बने लेकिन कोई भी यह नहीं कह रहा है कि इसके साथ ही ऐसी भी व्यवस्था बने जिससे कोई भी सरकार अपने किसी पसंदीदा कारोबारी या कंपनी को नियम-कानूनों में ढील देकर ठेका न दे सके और न ही अपनी जांच एजेंसियों का दुरुपयोग कर उस पर अनुचित दबाव डाल सके। आखिर कौन नहीं जानता कि कुछ कारोबारी और कंपनियां किस तरह दल विशेष की सरकार में दिन दूनी-रात चौगुनी गति से प्रगति कर जाती हैं या फिर उनका बेड़ा गर्क हो जाता है साफ है कि समस्या कहीं और है और समाधान कहीं और खोजा जा रहा है।

सुप्रीम कोर्ट ने चुनावी बांड की व्यवस्था इसलिए खत्म की क्योंकि उसने पाया कि गोपनीयता के अधिकार से सूचना का अधिकार अधिक महत्वपूर्ण है लेकिन इस अधिकार को खुद सुप्रीम कोर्ट कोई भाव नहीं देता और इसीलिए उच्चतर

न्यायपालिका के जज अपनी संपत्ति का विवरण घोषित नहीं करते। इसे ही कहते हैं 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे।' यदि आप राहुल गांधी नहीं हैं तो शायद यह मानते होंगे कि सारे कारोबारी चोर नहीं होते। आखिर ऐसे जिन कारोबारियों ने चुनावी बांड कानून के गोपनीयता वाले प्रविधान के तहत इस भरोसे चंदा दिया होगा कि उनका नाम सार्वजनिक नहीं होगा उनका क्या दोष ?

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:27-03-24

राष्ट्रवाद लोकतंत्र और संवैधानिक संस्थान

(लेखक पूर्व विदेश सचिव हैं)

भारत में अठारहवीं लोक सभा के चुनाव आगामी 19 अप्रैल से 1 जून तक होने जा रहे हैं। यह न केवल भारत बल्कि पूरी दुनिया के लिए एक बड़ा आयोजन है और इसका प्रबंधन करना खासा चुनौतीपूर्ण है। 1.4 अरब की आबादी में करीब एक अरब लोग अपने संवैधानिक अधिकारों का इस्तेमाल करते हुए उन लोगों का चुनाव करेंगे जो अगले पांच वर्ष तक उन पर शासन करेंगे।

ऐसा अन्य उदाहरण नहीं मिलता और यह सभी भारतीयों के लिए जश्न और गौरव का विषय है। लोकतंत्र के लिए केवल चुनाव पर्याप्त नहीं हैं लेकिन वे इसके लिए अनिवार्य हैं। वे चुने हुए राजनीतिक नेतृत्व को वैधता प्रदान करते हैं ताकि वह शासन कर सके। यह दीगर विषय है कि ऐसे नेतृत्व का समझदारी और जिम्मेदारीपूर्वक इस्तेमाल किया जाता है या नहीं।

लोकतंत्र की अवधारणा छठी सदी ईसा पूर्व के एथेंस में देखी जा सकती है जहां पहली बार जनता के शासन का विचार सामने रखा गया। समय के साथ 'लोगों' की परिभाषा बदलती गई और इस दौरान यह अधिक समावेशी होती गई। जिन लोगों को अपने नेता चुनने का अधिकार था वे संपत्ति धारण करने वाले हो सकते थे। महिलाओं को इससे बाहर रखा गया क्योंकि उन्हें दास माना जाता था। लोकतंत्र का अर्थ समानता नहीं था। बहरहाल, सीमित दायरे में ही सही प्रतिनिधित्व वाली सरकार को राजनीतिक आदर्श के रूप में स्थापित किया गया।

इसके विपरीत राष्ट्रवाद अपेक्षाकृत नया विचार है। इसकी जड़ें सत्रहवीं सदी में तलाश की जा सकती हैं जब यूरोप में तीस वर्ष के युद्ध के बाद वेस्टफेलिया का शांति समझौता हुआ था। इससे ऐसे नियम उभरे जो यूरोप के राजनीतिक क्षेत्र पर काबिज सत्ताओं के बीच के रिश्तों का संचालन करने वाले थे। हर सत्ता को मानचित्र पर तय ढंग से अपनी क्षेत्रीय सीमाओं को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना होता था जिसे अन्य देश मान्यता प्रदान करते थे। इन सीमाओं के भीतर राजनीतिक संस्थाओं को अधिकार प्राप्त होते हैं और उनके पास शक्तियों के स्तर पर भी एकाधिकार होता है।

इसी आधार पर क्षेत्रीय सीमाओं के भीतर उनके संप्रभु नियंत्रण को पहचाना जाता, अन्य संस्थाओं द्वारा उनका सम्मान भी किया जाता और इसमें बाहरी हस्तक्षेप नहीं होता। यह इतिहास का सबसे अहम राजनीतिक और वैचारिक घटनाक्रम

था। इसके साथ ही राष्ट्रीय संप्रभुता और क्षेत्रीय अखंडता की अवधारणा पैदा हुई। एक राष्ट्र राज्य की अवधारणा भी मानचित्रों की कला में प्रगति से संभव हुई क्योंकि उसकी बदौलत सटीक सीमांकन संभव हुआ।

अपने शुरुआती दौर में राष्ट्रवाद जातीय पहचान और संबद्धता से जुड़ा था। देशों के बारे में अक्सर यही माना जाता था कि वे साझा इतिहास और संस्कृति वाले जातीय समूहों से बने होते थे। राष्ट्रवाद ने ऐसी जातीय पहचानों पर नए सिरे से जोर दिया। परंतु ऐसे देश उदाहरण के लिए फ्रांस और जर्मनी आदि 18वीं और 19वीं सदी में बहु जातीय, बहु सांस्कृतिक और बहु धार्मिक साम्राज्यों के साथ मौजूद रहे।

इनमें ऑस्ट्रियन-हंगेरियन और ऑटोमन साम्राज्य शामिल थे। प्रथम विश्व युद्ध के बाद ये कई देशों में बंट गए जो अधिकतर साझा जातीयता पर आधारित थे। रूस इसका अपवाद था जहां 1917 की क्रांति के पश्चात जार के दौर के बहु जातीय और बहु धार्मिक साम्राज्य के स्थान पर सोवियत समाजवादी साम्राज्य तैयार हुआ। यह सात दशक तक बना रहा और फिर इसका भी कई राष्ट्र राज्यों में विभाजन हो गया।

ये नए राज्य पुरानी जातीय और सांस्कृतिक पहचानों पर आधारित थे, बस सोवियत संघ का हिस्सा होने के कारण अब उनमें अन्य जातीयताओं के लोग भी शामिल हो गए थे और यह उनके बीच आपसी तनाव की वजह भी बना जैसा कि हमने हाल ही में नगोर्नो कराबाख को लेकर अजरबैजान और अर्मीनिया के विवाद में देखा।

बहरहाल कई देश बहु जातीय और बहुधार्मिक भी बन गए और इसके पीछे ऐतिहासिक कारण थे। धार्मिक और सांस्कृतिक पहचान के साथ जातीयता भी लोगों की राष्ट्रीयता में अहम भूमिका निभाती है।

एक वास्तविक बहुलतावादी राज्य अधिक हाल की घटना है और इसके सूत्र दूसरे विश्व युद्ध के दौर में तलाशे जा सकते हैं जब बड़े पैमाने पर प्रवासियों ने असाधारण तरीके से राष्ट्रीय सीमाएं पार की थीं और समता के विचार ने जोर पकड़ा। यूरोप के कई देश तथा अमेरिका बहुलतावादी देश बन गए। सबसे बड़ा बदलाव यह है कि नागरिकता का आधार जातीय, सांस्कृतिक या धार्मिक नहीं रहा बल्कि राज्य के प्रति वफादारी इसकी वजह बन गई। स्वतंत्र भारत ने भी इसे अपनाया। इसकी वजह से प्रवासियों और मूल समुदायों के बीच तनाव की स्थिति बन सकती है और बनती है।

एक राष्ट्र राज्य को लोकतंत्र की आवश्यकता नहीं होती है, हालांकि लोकतंत्र हर नागरिक को देश की सफलता में हिस्सेदारी देकर राष्ट्रवाद को बल दे सकता है। दो शक्तिशाली राजनीतिक विचारों यानी राष्ट्रवाद और लोकतंत्र के साथ आने से देश बनाने वाले लोगों में बदलाव आ सकता है।

भारतीय संविधान का निर्माण करने वालों के सामने एक अहम चुनौती यह थी कि सन 1947 में औपनिवेशिक शासन से आजाद होने वाले भारतीय राष्ट्र राज्य के लिए कौन सी राह तय की जाए। क्या भारत की विविधता और बहुलता को देखते हुए उसे एक राष्ट्र राज्य बनाया जा सकता था? कौन सी बात इसे जोड़े रखती? उन्होंने यह निर्णय लिया कि देश की विविध पहचानों को दबाकर राष्ट्र की भावना पैदा करने की कोशिश आत्मघाती होगी।

उन्होंने नागरिकता की एक व्यापक अवधारणा तैयार की जो मौजूदा धार्मिक, भाषाई और सांस्कृतिक विविधता का दमन नहीं करती थी। उन्होंने एक लोकतांत्रिक राजनीतिक प्रतिष्ठान का चयन किया जिसने देश के नागरिकों को यह अधिकार

प्रदान किया कि वे अपनी पसंद का नेता चुन सकें। चुनावी प्रक्रिया में भागीदारी से ही राष्ट्रियता की भावना प्रबल होती है। इसके अलावा लोकतंत्र उस बहुलता की गुंजाइश तैयार करता है जो भारत को परिभाषित करती है।

भारत में लोकतंत्र और राष्ट्रवाद दोनों उसके बदलाव के मजबूत उपकरण हैं लेकिन अन्य मजबूत उपकरणों की तरह उनका भी समुचित इस्तेमाल किया जाना चाहिए। देश के संविधान में बहुत हद तक संवैधानिक अधिकार प्राप्त संस्थानों और प्रक्रियाओं के रूप में ऐसे उपाय शामिल किए गए हैं जो जवाबदेही सुनिश्चित करते हैं और नागरिकों के मूल अधिकारों को संरक्षित करते हैं।

लोकतंत्र में बहुमत का शासन होता है लेकिन केवल संविधान में उल्लिखित नियमों के अनुरूप ही शासन किया जा सकता है। एक लोकतांत्रिक देश में स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव इस दिशा में पहला और अपरिहार्य कदम है। जनता और उसके कल्याण के प्रति जवाबदेह संवैधानिक रूप से सशक्त संस्थानों को मजबूत बनाए रखने की प्रतिबद्धता को भी राष्ट्रीय एजेंडे में प्राथमिकता पर रखना चाहिए।

जनसत्ता

Date: 27-03-24

आतंक की सरहद

संपादकीय



आतंकवाद को लेकर पाकिस्तान दोहरा रवैया अख्तियार करता रहा है। एक तरफ तो वह भारत के खिलाफ आतंकी संगठनों को हथियार की तरह इस्तेमाल करता रहा है, मगर दूसरी तरफ अपने ही बलूचिस्तान इलाके में आतंकवाद से लड़ना उसके लिए चुनौती बना हुआ है। सोमवार को बलूचिस्तान प्रांत के तुरबाद शहर में नौसैनिक अड्डे पर आतंकवादियों ने हमला किया और गोली बरसाते हुए अंदर घुसने का प्रयास किया। इसके बाद खैबर पख्तूनख्वा इलाके में चीनी नागरिकों के एक काफिले पर हमला किया, जिसमें पांच चीनी इंजीनियरों की मौत हो गई। इन दोनों हमलों की जिम्मेदारी बलूचिस्तान लिबरेशन आर्मी नाम के आतंकी संगठन ने ली है। सैनिक ठिकानों या फिर चीनी नागरिकों पर ये हमले नए नहीं हैं और न ये केवल बलूचिस्तान प्रांत तक सीमित हैं। बलूचिस्तान लिबरेशन आर्मी वहां इस कदर ताकतवर है कि वह जब-तब

पाकिस्तानी सुरक्षाबलों को चुनौती देती रहती है। पाकिस्तानी सेना और पुलिस ने बलूचिस्तान प्रांत से आतंकवाद को नेस्तनाबूद करने के इरादे से हर तरह के कड़े कदम उठाए हैं, वहां के बेगुनाह लोगों पर भी खूब अत्याचार किए हैं, मगर उनके इरादे कमजोर करने में उन्हें कोई कामयाबी नहीं मिल पाई है।

दरअसल, बलूचिस्तान प्रांत के लोगों का मानना है कि पाकिस्तान सरकार उनके प्रांत के हितों की अनदेखी करती है। फिर, उस इलाके के लोग पाकिस्तान में चीन की बढ़ती दखल का पुरजोर विरोध करते रहे हैं। उनकी कहना है कि चीन उनके इलाके में घुस कर उनके संसाधनों का दोहन कर रहा है। दरअसल, पाकिस्तान में 'चीन-पाकिस्तान आर्थिक गलियारे के तहत कई परियोजनाएं चल रही हैं। बलूचिस्तान प्रांत के लोग उनका विरोध करते रहे हैं। इससे पहले भी चीनी नागरिकों पर कई बार हमले हो चुके हैं। ताजा हमला उसी की एक कड़ी है। मगर पाकिस्तान हुकूमत की मजबूरी यह है कि वह इन परियोजनाओं के नाम पर चीन से काफी पैसा ले चुकी है और इन दिनों जिस आर्थिक बदहाली के दौर से देश गुजर रहा है, उसमें वह चीन का दामन छोड़ नहीं सकती। चीन से उसकी दोस्ती न केवल आर्थिक कारणों से, बल्कि भारत के साथ तनावपूर्ण रिश्तों की वजह से भी है। चीन से दोस्ती करके वह भारत पर मानसिक दबाव बनाने की कोशिश करता है, मगर हकीकत यह है कि अपनी इस लचर रणनीति में वह खुद चीन के पंजे में अपनी गर्दन फंसा चुका है। अगर वह बलूचिस्तान प्रांत के लोगों के विरोध पर गंभीरता दिखाता, तो शायद आतंकवादी उसे अपने हथियार के तौर पर इस्तेमाल नहीं कर पाते।

बलूचिस्तान प्रांत में आतंकवाद इतना ताकतवर हो चुका है कि उसके चलते पाकिस्तान को ईरान और अफगानिस्तान के साथ रिश्तों में संतुलन साधना भी कठिन हो गया है। कुछ महीने पहले ही ईरान ने बलूचिस्तान प्रांत के कुछ आतंकी ठिकानों पर हवाई हमले किए, जिसके जवाब में पाकिस्तान ने भी उसके इलाके में हवाई हमले किए। विचित्र है कि जब भी अंतरराष्ट्रीय मंचों पर आतंकवाद के विरुद्ध जंग छेड़ने की बात उठती है, तो पाकिस्तान उसमें सहयोग करने का है, आश्वासन देता है, मगर हकीकत यह है कि वह आतंकवादियों का सबसे सुरक्षित पनाहगाह बना हुआ है। पाकिस्तान खुद भी इस बात से वाकिफ है कि उसकी तरक्की के रास्ते में सबसे बड़ा रोड़ा आतंकवाद है, मगर वह उस पर अंकुश लगाने को लेकर कभी संजीदा नजर नहीं आता।

जेल से सरकार

संपादकीय

कथित शराब घोटाले में गिरफ्तार दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविंद केजरीवाल ने स्थापित परंपरा से अलग जाते हुए जेल से सरकार चलाने का जो फैसला किया है, उसने एक नए विवाद और नए विमर्श को जन्म दिया है। विवाद इसलिए कि पूर्व में जब भी ऐसी परिस्थिति पैदा हुई, तो संबंधित मुख्यमंत्री ने हिरासत में लिए जाने से पहले अपना त्यागपत्र सौंप दिया। उन मुख्यमंत्रियों के इस्तीफे राजनीतिक शुचिता और सांविधानिक गरिमा की रक्षा के नैतिक दबाव से प्रेरित रहे। मगर, केजरीवाल के रुख ने विरोधियों को उन पर हमले का मौका मुहैया करा दिया है। उनका आरोप है कि मुख्यमंत्री पूछताछ के लिए ईडी की हिरासत में हैं, तो उनके पास लेखन सामग्री कहां से आई कि वह अपने मंत्रियों को निर्देश जारी कर रहे हैं? अब उन्होंने इस मामले की जांच कराने की मांग कर डाली है। जाहिर है, आम चुनाव की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है, केजरीवाल और उनकी पार्टी के मौजूदा रुख के पीछे जहां दिल्ली व देश के मतदाताओं तक यह पैगाम पहुंचाना है कि

सलाखों के पीछे भी आपके हितों के लिए मुख्यमंत्री सक्रिय हैं, तो वहीं भाजपा व एनडीए का पूरा प्रयास उनके इस कदम को अनैतिक ठहराने का है। राजनीतिक आरोपों-प्रत्यारोपों से परे इस प्रकरण ने देश और समाज के आगे विमर्श का एक गंभीर मुद्दा पेश किया है, क्योंकि संविधान इस संदर्भ में मौन है। संविधान यही कहता है कि मंत्रियों की एक परिषद होगी, जो शासन संबंधी फैसले लिया करेगी और मंत्रिपरिषद का मुखिया मुख्यमंत्री होगा। मंत्रिपरिषद की बैठक की सदारत के लिए मुख्यमंत्री की उपस्थिति की भी बाध्यता नहीं है, काबीना का वरिष्ठतम मंत्री यह दायित्व निभा सकता है। ऐसे में, सरकार के दैनंदिन कार्यों में फौरी तौर पर कोई खास व्यवधान नहीं आने वाला। फिर जेल मैनुअल भी विचाराधीन कैदियों को सप्ताह में एक दिन मुलाकात का मौका देता है और यह भी प्रावधान है कि सभी कैदी पंद्रह दिनों में एक बार अपने रिश्तेदारों, साथियों, कानूनी सलाहकारों को पत्र लिख सकते हैं। ऐसे में, यह सवाल स्वाभाविक है कि यदि यह मामला लंबा खिंचता है, तो क्या इस विधानसभा के शेष कार्यकाल में दिल्ली सरकार जेल से चलेगी? निस्संदेह, केंद्र अभी इस स्थिति को लेकर कोई नीतिगत फैसला नहीं कर सकता, क्योंकि आम चुनाव की प्रक्रिया शुरू हो चुकी है। मगर इस कथित घोटाले में जांच एजेंसियों की दक्षता को लेकर भी सवाल उठने लगे हैं। कई लोग पूछ रहे हैं कि इतने महीनों बाद भी इस मामले में ट्रायल क्यों नहीं शुरू हुआ? नैतिकता का कोई सवाल एकांगी नहीं होता। किसी अन्य से नैतिकता की अपेक्षा करते हुए खुद भी मजबूत नैतिक धरातल पर खड़े रहना पड़ता है, वरना उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता। दुर्योग से पिछले कुछ समय से हमारे समूचे राजनीतिक माहौल में जिस एक चीज का सबसे अधिक हास हुआ है, वह नैतिकता ही है। इसलिए अगली संसद से यह अपेक्षा की जाएगी कि वह ऐसे मसलों पर वैधानिक स्थिति को स्पष्ट करे। ऐसे गंभीर मसलों में, जिसमें किसी गिरफ्तारी से एक निर्वाचित सरकार का कामकाज आंशिक रूप से भी प्रभावित हो, जांच एजेंसियों की जिम्मेदारी भी तय की जानी चाहिए। इससे न सिर्फ उनकी निष्पक्षता मजबूत होगी, बल्कि प्रतिशोध की राजनीति के लिए गुंजाइश भी कम होगी। इस विमर्श को एक वैधानिक अंजाम तक ले जाने के लिए नई संसद में पक्ष-प्रतिपक्ष को एकराय होना होगा।
